

शिक्षा और सशक्तिकरण

□ राजाराम भादू

सभी विकासशील देशों में शिक्षा से सामाजिक रुपांतरण और कमजोर तथा वंचित तबकों के सशक्तिकरण का ध्येय जुड़ा है। शिक्षा से यह अपेक्षा की जाती है कि इससे समाज की जड़ता टूटेगी और गत्यात्मक को बढ़ावा मिलेगा। स्वतंत्र भारत के पांच दशकों में शिक्षा की उपलब्धियों पर नजर डालें तो सशक्तिकरण में शिक्षा की भूमिका निराश करती है। लेकिन इसके लिए अकेले शिक्षा को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। सशक्तिकरण केवल शिक्षा के भरोसे संभव भी नहीं हो सकता, शिक्षा की इसमें एक सीमित भूमिका है। बेशक, यह सही है कि सशक्तिकरण की व्यापक और बहुआयामी प्रक्रिया में शिक्षा की भूमिका काफी संभावनाशील है।

भारत में दलित, आदिवासियों और स्त्रियों की चिंतनीय दशा के मद्देनजर उन्नयन के अनेक कार्यक्रम तय किये गये। इनकी अपर्याप्तता और असफलताओं की शिकायतें होती रही हैं। देश में जनतंत्र की आधुनिक राजनीतिक प्रणाली को अपनाया गया था जिसमें हर नागरिक की महत्वपूर्ण भूमिका निर्धारित है, किन्तु कोई भी नागरिक इस भूमिका को तभी अंजाम दे सकता है, जबकि वह इसमें समर्थ हो। व्यक्ति को यह सामर्थ्य प्रदान करने की अपेक्षा शिक्षा से की गयी जो कि उचित ही थी। लेकिन खुद शिक्षा को लेकर राज्य सत्ता का रवैया उदासीनता का रहा है। शिक्षा से सशक्तिकरण से पहले शिक्षा की पहुँच का मुद्दा आता है। समाज के जिन कमजोर और वंचित तबको को सशक्त करके मुख्यधारा में लाना है, क्या उन्हें शिक्षा सुविधाएं उपलब्ध हैं? वंहा उपलब्धता ही नहीं है तो फिर उनके संदर्भ में शिक्षा से सशक्तिकरण का मुद्दा ही बेमानी हो जाता है।

सशक्तिकरण के संदर्भ में दूसरा सवाल शिक्षा की गुणवत्ता का है। सशक्तिकरण की कोई एक स्थिर परिभाषा नहीं है, यह समाज-सापेक्ष है। जनतंत्र में सशक्तिकरण व्यक्ति की स्वातंत्र्य चेतना और सामाजिक न्याय से सम्बद्ध है। ऐसे में सशक्तिकरण राज्य सत्ता की दृढ़ संकल्प शक्ति, नीतियों के प्रभावी क्रियान्वयन और व्यापक सामाजिक अभियान की मांग करता है। एक उदाहरण से बात जरा स्पष्ट हो जायेगी। अभी तक शिक्षा के सीमित प्रसार के बावजूद, दलित-वंचित तबकों के जो स्त्री-पुरुष सामाजिक आंतरण कर पाये हैं, अधिकांशतः वह आरक्षण की सुविधा के कारण संभव हो सका है। सदियों से चली आ रही रूढ़ संरचना और आर्थिक विपन्नता के चलते किसी दलित परिवार के व्यक्ति के लिए सवर्ण सुविधा सम्पन्न लोगों से होड़ लेना संभव नहीं हो सकता। यदि उसे बराबर लाना है तो अतिरिक्त मदद और उत्प्रेरण की आवश्यकता होगी। इसके लिए कुछ दूसरी एजेंसियां और तंत्र स्थापित करने होंगे। वंचित वर्गों के उभार में जनतांत्रिक शासन प्रणाली बहुत कारगर साबित हुई है। किन्तु यह तभी संभव होता है जब जनतंत्र निचले पायदान तक पहुंचे। जनतंत्र महज एक शासन-प्रणाली नहीं है, यह जीवन-प्रणाली है। जनतांत्रिक प्रक्रियाओं के प्रसार में शिक्षा तभी प्रभावशाली भूमिका निभा सकती है, जब खुद शिक्षा तंत्र का जनतांत्रिकरण हो और शिक्षा की अन्तर्वस्तु में जनतांत्रिक मूल्यों का

समावेश हो। भारत जैसे सामंती पृष्ठभूमि वाले देश में यह चेतना के उन्नयन का मामला है। यह शिक्षा के अभी तक चले आ रहे समाजीकरण कार्य को बढ़ा देता है। शिक्षा सामाजिक रूपान्तरण में अहम भूमिका निभाने लगती है।

वंचितों का सशक्तीकरण यथास्थिति को तो तोड़ता ही है, कुछ नये तनावों और संघर्षों को भी जन्म देता है। यदि वंचित तबके उभरते हैं तो वे अपनी खोई हुई जगह हासिल करना चाहते हैं। और ये वह जमीन है जहां से उन्हें बेदखल कर दिया गया है। इससे समाज के वर्चस्वशाली तबके में बैचेनी होती है। अभी तक स्थापित समाज-संरचना सवालों के घेरे में आती है। ऐसे में उन द्वन्द्व और संघर्षों का क्या समाधान हो, यह एक ज्वलंत प्रश्न है। क्या शिक्षा इस दिशा में मददगार हो सकती है? बेशक, शिक्षा इसमें मदद कर सकती है। लेकिन यह मदद पुलिस अथवा अर्ध सैनिक बलों जैसी मदद नहीं होगी। शिक्षा के माध्यम से सामाजिक गत्यात्मकता के सिद्धान्त को प्रचारित किया जा सकता है। शिक्षा विभिन्न तबके के स्त्री-पुरुषों की अभी तक चली आ रही 'आत्म-छवि' में बदलाव ला सकती है। शिक्षा सामान्य जनों में यह समझ निर्मित कर सकती है कि वंचितों को उनका हक मिलना चाहिए। जनतांत्रिक प्रक्रियाओं में प्रभावी हिस्सेदारी के लिए जरूरी समझ और कौशल शिक्षा के माध्यम से विकसित किये जा सकते हैं। यही नहीं, शिक्षा एक नयी मूल्य-संरचना विकसित कर सकती है जिसमें परस्पर संवाद और संवेदन शीलता का आदर किया जाता हो।

लेकिन शिक्षा के माध्यम से यह सब कर पाना इतना सरल नहीं है। ऐसे समय में जब समाज का बहुलांश विपरीत दिशा में जा रहा हो, शिक्षा से ऐसी अपेक्षा रखने का क्या अर्थ है? यहां हम दो तीन उदाहरणों से बात साफ करने की कोशिश करेंगे। पिछले दशक से भारत में दलित- आदिवासी समुदायों का तीव्र राजनीतिकरण हुआ है और उन्होंने सत्ता में किसी सीमा तक साझेदारी प्राप्त भी की है। दूसरी ओर, देश के महानगरों में एक ऐसा अभिजात्य (इलीट) वर्ग पनपा है जो जनतंत्र के प्रति नकारात्मक अथवा उदासीन रुख अपनाये हुए है। समाजशास्त्री इन समुदायों को 'इंडिया' और 'भारत' के नाम से पुकारते हैं। 'इंडिया' और 'भारत' में कोई परस्पर संवाद तो है ही नहीं, बल्कि इनके बीच सांस्कृतिक विभेद भी बढ़ता जा रहा है। क्या यह स्थिति शिक्षा परिदृश्य के बहुप्रचलित विभेद का प्रतिबिम्बन नहीं लगती? दूसरे, शिक्षा के उद्देश्यों में इस बात पर बहुत जोर दिया जाता है कि व्यक्ति में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित किया जाये। अब तक यह देखा गया है कि तार्किक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण की रुढ़ धार्मिक मान्यताओं से टकराहट रही है। लेकिन इधर हम देखते हैं कि शिक्षित समुदायों का धार्मिक रुझान लगातार बढ़ रहा है। अनेक शिक्षित परिवार धार्मिक रुढ़ियों और अनुष्ठानों को बिना कोई प्रश्न अठाये आंखें मूंदकर मानते जा रहे हैं। यहां तक कि समाज शास्त्री भी इस स्थिति से अंचभित हैं।

विषयान्तर किये बिना हम फिर से मुद्दे पर आना चाहेंगे। यदि हम शिक्षा से सामाजिक रूपान्तरण और कमजोर व वंचित तबकों के सशक्तिकरण की अपेक्षा रखते हैं तो सर्वप्रथम शिक्षा की समाज के सबसे निचले पायदान तक पहुंच सुनिश्चित करनी होगी। शिक्षा का सार्वजनीकरण इस प्रकार पहली प्राथमिकता बन जाता है। लेकिन यह सार्वजनीकरण येन-केन-प्रकारेण किया हुआ नहीं होकर, शिक्षा तंत्र के व्यापक जनतांत्रिकरण के अन्तर्गत होना चाहिए।

यह कि शिक्षा के उद्देश्यों में कमजोर वर्गों के सशक्तिकरण को शामिल करने से ही काम नहीं चलने वाला, बल्कि शिक्षा की समूची अन्तर्वस्तु में जनतांत्रिक प्रणालियों, मूल्यों और दृष्टिकोण को जगह देनी होगी। असल में, यह शिक्षा की गुणवत्ता से जुड़ा प्रश्न है, मसलन, शिक्षा की विषयवस्तु और पद्धति तो सशक्तिकरण को बढ़ावा देती ही हों, इन शिक्षक और शालाओं का भी सशक्तीकरण करना होगा। इसी के साथ समाज का जो हिस्सा कमजोर नहीं है, उसे भी सामाजिक रूपान्तरण की इस प्रक्रिया से निरपेक्ष नहीं छोड़ा जा सकता। जनतंत्र में वैसे भी सिर्फ धर्म निरपेक्षता के लिये जगह है। वंचितों के सशक्तिकरण की सामाजिक स्वीकृति से ही स्थिति बदलने वाली नहीं हैं। इसके लिए सामाजिक सक्रियता जरूरी है। हम देखते हैं, जिन परिवारों ने पितृसत्तात्मक मूल्य-मान्यताओं को त्याग दिया है, वहां पुरुष-स्त्रियों के संबंध अधिक स्वस्थ और संवादमूलक है। एक समतामूलक समाज रचना के सिर्फ वंचितों और पिछड़ों को ही नहीं बदलना है, दूसरों को भी उतना ही बदलना है।

‘शिक्षा-विमर्श’ पिछले कई महीनों से विलम्ब से प्रकाशित हो पा रहा है। आर्थिक कारणों के अतिरिक्त इसका एक कारण बेहतर सामग्री का अभाव भी रहा है। हमने इसे समय पर लाने की काफी कोशिश की लेकिन अब यह मुश्किल लग रहा है। इसलिए यह सोचा गया है कि तीन अंकों को परस्पर मिला दिया जाये और फिर कोशिश करें कि सभी अंक समय पर प्रकाशित हों। पत्रिका के वार्षिक ग्राहकों को चिंता करने की आवश्यकता नहीं है, उन्हें वार्षिक सहयोग राशि के बदले कुल बारह अंक प्रदान किये जायेंगे। आशा है पाठक स्थिति को समझेंगे और सहयोग बनाये रखेंगे। ♦